

4 फरवरी, 2008 को 0930 बजे मुम्बई में चौदहवें अखिल भारतीय सचेतक सम्मेलन के उद्घाटन के अवसर पर भारत के माननीय उपराष्ट्रपति और राज्य सभा के सभापति, श्री हामिद अंसारी द्वारा दिया गया अभिभाषण

इस विशिष्ट सम्मेलन में ऐसे व्यक्ति शामिल हुए हैं जो संसदीय लोकतंत्र के कार्यकरण का एक अनिवार्य हिस्सा हैं। इसलिए मेरे लिए यह बड़े गौरव की बात है कि मुझे इसका उद्घाटन करने के लिये कहा गया।

(द्विप) सचेतक को 'अपने दल के सदस्यों में अनुशासन बनाए रखने, उनकी उपस्थिति सुनिश्चित करने और उन्हें सूचना प्रदान करने के लिए नियुक्त प्राधिकारी' के रूप में परिभाषित किया जाता है। विधायिका के उचित कार्यकरण हेतु ये सभी कार्य आवश्यक हैं। परम्पराएं इसे मान्यता प्रदान करती हैं और संसद के अधिनियम ने इसे महत्व प्रदान किया है।

यह कहा जाता है कि सचेतक 'सदन बनाते हैं' और 'सदन की देखभाल करते हैं'। उनके विविध कार्य हैं जैसे,

- विधायिका के कार्यकरण को सुगम बनाना और इसे अधिकतम कार्य करने के योग्य बनाना।
- विधायिका में दल के लोगों के लिए दैनिक आधार पर दल की नीति बताने के लिए एक माध्यम बनना और उनकी राय जानने के लिए एक बैरोमीटर के रूप में कार्य करना;
- अपने दल के सदस्यों के लिए परामर्शदाता तथा दल नेतृत्व के लिए सलाहकार के रूप में कार्य करना;
- पक्ष लेने और अनुशासन रखने के लिए एक माध्यम के रूप में कार्य करना।

सचेतकों के लिए मानव प्रकृति का ज्ञान और स्वभाव में मिलनसारिता का होना आवश्यक समझा जाता है। उन्हें यह मालूम होना चाहिये कि कब फुसलाना है, कब मनाना है और कब धमकाना है। हाल के एक अध्ययन में उनकी भूमिका को 'भय दिखाने की क्षमता, दबंगता और चतुराई से भरपूर गुणों वाले एक व्यक्ति के रूप में' रेखांकित किया गया है।

अतः हमारी संसदीय प्रणाली के कार्यकरण पर कोई टीका-टिप्पणी करने का अर्थ सचेतकों की संस्था की प्रभावोत्पादकता या किसी अन्य बात पर टिप्पणी करना होगा। तथापि,

सामान्य मूल्यांकन विशेषकर विधायकों के कार्यकरण में उनकी भूमिका से संबंधित उनके प्राथमिक कार्य के संबंध में हमें सभी बातों का उत्तर प्रदान नहीं करता है।

लोकतंत्र में सदस्यों को क्यों चुना जाता है? वे किस प्रयोजन को पूरा करते हैं? पहले प्रश्न का उत्तर 'प्रतिनिधित्व और भागीदारी युक्त शासन' पदावली में निहित हैं। दूसरे का उत्तर राज्य सभा के पहले सभापति डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णन द्वारा दिया गया था। उन्होंने कहा था कि, 'संसद केवल एक विधायिका ही नहीं अपितु एक चर्चा करने वाला निकाय भी है।' पहला तत्कालीन सरकार द्वारा संचालित होता है और दूसरा सार्वजनिक राय और विपक्षी दबाव से। इस मुद्दे पर सर आइबर जेनिंग ने अधिकारपूर्ण ढंग से कहा था कि :-

"वस्तुतः सदन का असली कार्य सरकार की नीति पर सरकार से सवाल करना और बहस करना है। ऐसा करने से सरकार की किसी नीति की अलोकप्रियता का सरकार को अहसास कराया जा सकता है। लोकतांत्रिक सरकार लोगों की राय पर निर्भर करती है।"

इस प्रकार तीन कारणों से विचार-विमर्श करना अत्यावश्यक है, अर्थात्

- सरकार के कार्य पर प्रभावी ढंग से निगरानी रखने;
- विपक्षी दलों और जनता को नीति स्पष्ट करने; और
- सरकार को विपक्ष तथा जनता के सरोकारों के बारे में सूचित करने के लिए।

इन कार्यों का किस हद तक निर्वहन किया जाता है, यह राय के बजाए एक तथ्यपरक मामला है।

संसदीय सरकार के मूल-भूत सिद्धांतों को हम भलीभांति जानते हैं। जब तक सरकार बहुमत में रहती है, तब तक वह ऐसी कानूनी शक्तियों को प्राप्त करने में समर्थ होती है जिन्हें प्रशासन की दृष्टि से आवश्यक समझा जाता है और अल्पसंख्यक, चाहे कितने भी अल्प क्यों न हो, वे प्रशासन की आलोचना कर सकते हैं। इस शासन-पद्धति की मूल भावना के लिए यह अपेक्षित है कि मज़बूत विपक्ष सहयोग करके एकजुट हों ताकि बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक, दोनों ही अपने-अपने कार्यों का निर्वहन करने में समर्थ हो सकें।

हमारे विधानमंडलों के कार्यकरण की प्रभावकारिता का परिमाण केवल जनता की आकांक्षाओं के पैमाने से ही किया जा सकता है। हमारी संसदीय संस्थाएं इस व्यवस्था को

कार्य करने योग्य बनाने में कितनी सफल रही हैं? सार्वजनिक रूप से उपलब्ध आंकड़े कहानी कुछ इस तरह बयान करते हैं:

- राज्य सभा की बैठकों की संख्या में कमी आई है। 1952-61 के पहले दशक में बैठकों की वार्षिक औसत 90.5 थी जो 1992-2001 के दौरान 20 प्रतिशत गिरकर 71.3 रह गयी। लोकसभा के मामले में इसी अवधि के लिये तुलनात्मक आंकड़े हैं- 124.2 और 81.0 अर्थात् 34 प्रतिशत की गिरावट।
- राज्य विधान सभाओं की तस्वीर तो और ज्यादा आंख खोलने वाली है। वहां वार्षिक बैठकों की संख्या की औसत 20 से 50 के बीच हो गयी है।
- 1952-1961 के दशक में संसद द्वारा पारित विधेयकों की संख्या की वार्षिक औसत 68 थी जो कि 1992-2001 के दशक के दौरान घट कर 49.9 प्रतिशत हो गयी। सभा में दिए गए आश्वासनों को अपेक्षाकृत कम विनियमितता से पूरा किया जा रहा है।
- ग्यारहवीं लोक सभा में लगभग 5.28 प्रतिशत कार्य-समय व्यवधान के कारण नष्ट हुआ। 12 वीं लोक सभा में यह बढ़ कर 10.66 प्रतिशत और 13वीं लोक सभा में 18.95 हो गया। वर्तमान लोक सभा में स्थगन के कारण 21 प्रतिशत समय बरबाद हुआ। हाल के वर्षों में राज्य सभा में विशेषतः अधिक समय नष्ट हुआ है।
- नष्ट हुए समय की थोड़ी-बहुत भरपाई देर रात तक बैठक करके पूरी की जाती है। तथापि, जनमानस पर व्यवधान का असर बना रहता है। दलों के सचेतक इस प्रकार के व्यवधानों के मूक दर्शक बने रहते हैं जिसके कारण वे विधानमंडल के कार्यकरण को सुचारू रूप से चलाने के अपने प्राथमिक कर्तव्य का निर्वाह करने में विफल रहते हैं।
- राजनीतिक समूह विधानमंडल में अपने प्रतिनिधियों का चयन करने में पर्याप्त सावधानी नहीं बरतते। 2004 में निर्वाचित हुए लगभग 23 प्रतिशत संसद सदस्यों के विरुद्ध आपराधिक मामले दर्ज थे। इनमें से आधे से अधिक अपराधों का स्वरूप इस तरह का है जिनमें पांच या इससे अधिक वर्षों के कारावास का दण्ड दिया जा

सकता है। विधानसभाओं के सदस्यों के मामले में तो स्थिति और भी बदतर है। इसका भी जनमत पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है।

मित्रो,

आपको याद होगा कि 1997 में स्वतंत्रता की स्वर्ण जयंती के अवसर पर संसद की दोनों सभाओं ने 'भारत की कार्यसूची' विषयक संकल्प सर्वसम्मति से स्वीकार किया था। इसका एक भाग संसद की प्रतिष्ठा को बनाये रखने और उसमें वृद्धि करने की आवश्यकता से संबंधित था।

संकल्प में तीन विशिष्ट वचनबद्धताएं व्यक्त की गई थीं :

- प्रश्न पूछने के समय की पावनता को बनाए रखना
- संसद भवन के कार्यालय परिसर में अतिक्रमण करने, अथवा नारेबाजी करने से बचना
- गणतंत्र के राष्ट्रपति के अभिभाषण में व्यवधान डालने या हस्तक्षेप करने से निरपवाद रूप से बचना।

दस वर्ष बाद, अभिलेखों से पता चलता है कि इनमें से प्रत्येक में इस गंभीर वचनबद्धता का उल्लंघन किया गया है। जनता की अदालत में यह एक गंभीर अपराध है और सभ्य समाज और मीडिया द्वारा इसे इन्हीं नजरों से देखा जाता है। इसने निर्वाचित विधानमंडलों की संस्था और भारतीय लोकतंत्र के कार्यकरण को क्षति पहुंचाई है। एक प्रेक्षक ने हमारी प्रणाली को एक 'निर्वाचकीय लोकतंत्र' के रूप में परिभाषित किया है।

कुछ प्रश्न अपरिहार्य रूप से उठते हैं और इनका उत्तर दिया जाना जरूरी है:

- क्या प्रश्नों के समय के दौरान कार्यवाहियों में व्यवधान डालना उन सदस्यों के विशेषाधिकार का उल्लंघन नहीं है जो गृहीत तारांकित प्रश्नों, और अनुपूरक प्रश्नों के उत्तरों की प्रतीक्षा में होते हैं?
- क्या विधायिका के सदस्य जनता की राय से बेअसर हैं?
- क्या व्यवधान डालने वाले सदस्य वेतन पाने वाले, पूर्णकालिक, लोकसेवक शब्दों के तकनीकी अर्थ का निहितार्थ समझते हैं?

- हमारी विधायिका के सदस्य अन्य लोकतांत्रिक प्रणालियों की विधायिका के सदस्यों की भांति कार्य क्यों नहीं कर सकते?

हमें स्वयं इस बात का स्मरण होना चाहिए कि एक लोकप्रिय व्यक्ति और विधायिका का सदस्य होने के बीच अंतर है। प्रत्येक लोकप्रिय व्यक्ति विधायिका का सदस्य नहीं होता; विधायिका का सदस्य अपने पद के दायित्वों को सजगता से स्वीकार करता है और विधायिका में अपने कर्तव्यों को गौण स्थान नहीं दे सकता। यह बड़े दुख की बात है कि प्रायः विधायिका की लालसा प्रतिनिधित्व करने के प्रशंसनीय उद्देश्य के लिए नहीं रही है, बल्कि कुछ लोगों द्वारा इसे और आकर्षक पदों पर पहुंचने की सीढ़ी मात्र के रूप में देखा जाता है।

विधायिका के विचार-विमर्श करने संबंधी कार्यों में निश्चित रूप से गिरावट आई है। इसके लिए सदन के सभी पक्ष जिम्मेदार हैं। सत्ता पक्ष जन-सरोकार के मुद्दों पर ठोस चर्चा करने से बचता है; विपक्ष इन मुद्दों का बढ़ा-चढ़ाकर उल्लेख करने के लिए ही तथाकथित शून्य काल का इस्तेमाल करने को प्राथमिकता देता है। इस प्रकार विचार-विमर्श व्यर्थ का खेल बन कर रह जाता है। नीतियां जनता को उत्पाद की तरह परोस दी जाती हैं; निर्वाचकगण को इस प्रक्रिया के बारे में पता ही नहीं चल पाता।

इस पूरी प्रक्रिया से संसद के एक ऐसी संस्था के होने की छवि पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है जिसे लोकतन्त्र में एक जवाबदेही वाली संस्था के रूप में जाना जाता है। लोकतंत्र पर इसका गंभीर प्रभाव पड़ता है।

ऐसी स्थिति में संसद और अन्य विधायिकाओं को वह प्रधानता जो इसे मिलनी चाहिए और जिसके लिए वे अस्तित्व में हैं, बहाल करने के लिए सुधारात्मक उपायों द्वारा क्या कुछ किया जा सकता है? सुधारात्मक उपाय एक साथ दो स्तरों पर करने होंगे: पहला शून्यकाल के महत्व को बहाल करने के लिए और दूसरा विधायिका को सार्वजनिक नीति पर वाद-विवाद के प्रमुख मंच के रूप में पुनः स्थापित करने के लिए। संभवतः इस सम्मेलन और इसमें भाग लेने वाले राजनैतिक दलों द्वारा निम्नलिखित बातों पर विचार किया जा सकता है:

- विधायिका के प्रत्येक सदस्य को पद की शपथ लेते समय, 1997 के संकल्पों में उल्लिखित संसद के कार्यकरण से संबंधित तीन बातों के समर्थन में अपने हस्ताक्षर करने चाहिए।
- संसद की विचार-विमर्श करने संबंधी भूमिका को इसकी बैठकों की संख्या को प्रतिवर्ष लगभग 130 करके बहाल किया जाना चाहिए। ब्रिटेन और कनाडा की संसदों के तुलनात्मक आंकड़े तो 140 से भी अधिक हैं। अमरीकी संसद का सत्र प्रतिवर्ष औसतन 150 से अधिक दिन तक रहता है।
- यदि व्यवधान के कारण समय की बर्बादी हो, तो इसकी प्रतिपूर्ति उसी दिन सामान्य कार्य घंटों के बाद बैठक करके की जानी चाहिए।
- सभापीठ को सचेतकों के साथ सदस्यों द्वारा आचरण संबंधी मापदंडों का उल्लंघन किए जाने की घटनाओं पर प्रतिदिन विचार करना चाहिए। जब भी आवश्यक हो, तो सदस्यों को दण्डित करने (नेमिंग) संबंधी नियम का प्रयोग किया जाना चाहिए।
- विवादास्पद मुद्दों पर बहस या उनके उल्लेख को बाधित करने की परम्परा से बचा जाना चाहिए और सरकार तथा विपक्ष को विशेष रूप से ऐसे मुद्दों पर विचार-विमर्श करने के लिए प्रतिबद्ध रहना चाहिए जिनके लिए विधायिका के कम से कम एक तिहाई या एक-चौथाई सदस्यों द्वारा अनुरोध किया गया हो।
- अपवादों को छोड़कर, बहस में किए जाने वाले हस्तक्षेपों में ठोस विचार कम होते हैं, और लच्छेदार भाषा का प्रयोग अधिक होता है। इसका एक कारण यह है कि कई सदस्यों के पास शोध-कार्य का मजबूत आधार नहीं होता है। संयुक्त राज्य अमरीका स्थित कांग्रेसनल रिसर्च सर्विस की तर्ज पर ऐसा आधार उपलब्ध कराए जाने की आवश्यकता है।

देवियो और सज्जनो,

पतन का संकेत साफ झलक रहा है। हमारे विधानमण्डलों को उपलब्ध कराये गए साधन या तो निष्प्रभावी कर दिए गए हैं या वे सही ढंग से कार्य करने के योग्य नहीं रह गए हैं। आज एकमात्र सर्वाधिक महत्वपूर्ण चिन्ता की बात सार्वजनिक कल्याण का उपाय करने और प्रभावकारी कानून तथा सार्वजनिक नीति तैयार करने में योगदान करने में समर्थ प्रभावी

संस्था के रूप में हमारे विधानमण्डलों की घटती विश्वसनीयता है। आवश्यकता इस बात की है कि विधानमण्डलों में अधिक से अधिक कार्य निष्पादन के लिए उनके दिन-प्रतिदिन के कार्यकरण की समीक्षा की जाए।

इस तरह की पहल किये जाने के कई सफल दृष्टांत हैं। स्मरण रहे कि वर्ष 1993 में संसदीय कार्यकलापों को और अधिक प्रभावकारी बनाने के लिए तथा कार्यपालिका को और अधिक जवाबदेह बनाने के लिए तथा जहां कहीं आवश्यक हो विशेषज्ञ एवं सार्वजनिक मत का लाभ लेने के लिए संसद ने विभागीय स्थायी समितियों का गठन किया था। इससे विधायी प्रस्तावों पर और अधिक गहराई से विचार करने का अवसर प्राप्त हुआ है तथा निस्सन्देह इसमें सुधार एवं जनता के साथ और अधिक विचारों का आदान-प्रदान होने की संभावना है।

मित्रो,

यह आपका 14वां सम्मेलन है। संसदीय लोकतंत्र का कार्यकरण काफी हद तक इस बात पर निर्भर करता है कि आप सचेतक के रूप में अपनी जिम्मेवारियों को किस रूप में लेते हैं। आपकी सिफारिशें अत्यंत मूल्यवान होंगी।

तथापि, इससे बड़ी चुनौती उन्हें क्रियान्वित करने की होगी। यदि हम डॉ. अम्बेडकर द्वारा दी गई सलाह को याद रखें तो अच्छा होगा। उन्होंने कहा था, "संविधान का कार्यकरण संविधान की प्रकृति पर पूर्णतः निर्भर नहीं है। संविधान केवल राज्य के अंगों, जैसे विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका की व्यवस्था ही कर सकता है। राज्य के इन अंगों का कार्यकरण वस्तुतः जिन कारकों पर निर्भर करता है वे हैं-जनता तथा उनकी इच्छाओं और राजनीति को कार्यान्वित करने के लिए उनके द्वारा गठित राजनैतिक दल। कौन बता सकता है कि भारत की जनता और उनके दलों का व्यवहार कैसा होगा ?"

मैं एक बार फिर संसदीय कार्य मंत्री श्री दासमुंशी जी का धन्यवाद करता हूं कि उन्होंने मुझे इस सम्मेलन का उद्घाटन करने के लिए आमंत्रित किया। मैं आपके द्वारा किए जाने वाले विचार-विमर्शों की पूर्ण सफलता की कामना करता हूँ।

धन्यवाद।